

प्रतिवेदन (REPORT)

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् (ICPR), नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित

तथा

फिलॉसोफिकल प्रैक्सिस, काउन्सलिंग एण्ड स्परिच्युअल हीलिंग सोसाइटी, जयपुर

द्वारा आयोजित

राष्ट्रीय संगोष्ठी

THOUGHT, PRINCIPLE AND PRACTICE

(विचार, सिद्धान्त और व्यवहार)

30-31 जनवरी, 2016

प्रतिवेदन

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् (ICPR), नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तथा *फिलॉसोफिकल प्रैक्सिस, काउन्सलिंग एण्ड स्पिरिचुअल हीलिंग सोसाइटी, जयपुर* द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी

THOUGHT, PRINCIPLE AND PRACTICE

(विचार, सिद्धान्त और व्यवहार)

30-31 जनवरी, 2016

फिलॉसोफिकल प्रैक्सिस, काउन्सलिंग एण्ड स्पिरिचुअल हीलिंग सोसाइटी, जयपुर द्वारा दिनांक 30 एवं 31 जनवरी, 2016 को भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित “*Thought, Principle and Practice*” विषय पर एडवांस स्टडी सेन्टर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसके आयोजक प्रो. के.एल. शर्मा थे। दो दिवसीय इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में गुजरात, महाराष्ट्र, बिहार, उत्तर-प्रदेश, हिमाचल-प्रदेश तथा राजस्थान के प्रतिभागियों ने भाग लिया। संगोष्ठी में कुल छः अकादमिक सत्र हुए। प्रथम सत्र (दिनांक 30/01/2016, समय : 10:30 से 12:00) प्रो. आर.एस. भटनागर की अध्यक्षता में हुआ, जिसमें प्रो. के.एल. शर्मा का एक व्याख्यान हुआ तथा एक शोध-पत्र पढ़ा गया। प्रो. के.एल. शर्मा ने अपने व्याख्यान में सोसाइटी का परिचय दिया तथा उसके कार्यों एवं उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए संगोष्ठी के विषय पर विभिन्न पक्षों एवं समस्याओं को लेकर विस्तार से चर्चा की। मुख्यवक्ता के रूप में सम्बोधित करते हुए प्रो. के.एल. शर्मा ने कहा दूसरे वक्ता के रूप में प्रो. दिलीप चारण ने “*विचार, सिद्धान्त और व्यवहार में सिद्धान्त रचना की भूमिका*” विषय पर शोध-पत्र का वाचन किया। प्रो. दिलीप चारण ने अपने शोध-पत्र में बताया कि नयी सिद्धान्त-रचना सम्भव है परन्तु समाजविज्ञानों में सिद्धान्त-रचना की स्थिति अच्छी नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से अभी तक परिमाणात्मक-पद्धति और गुणात्मक-पद्धति में ही समाज विज्ञानों ने अपने को समेट रखा है। सिद्धान्त-रचना के क्षेत्र में समाजविज्ञान का कोई विशेष उत्साह देखने को नहीं मिलता। सामाजिक-सिद्धान्तों में आवश्यकता के अनुरूप नवपल्लवन नहीं हुआ है। सामाजिक-सिद्धान्त मानव और समाज के महत्वपूर्ण प्रश्नों में मार्गदर्शन देने में सक्षम नहीं है। समाजविज्ञान के आनुभविक घटना या अनुभवों को किसी पूर्वस्थापित सिद्धान्त में समाहित किया जाता है। कोई उत्तम सिद्धान्त या उसके अभिगम को पसन्द करके उस सिद्धान्त के अनुरूप तथ्यों का चयन किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समाजविज्ञानों में सिद्धान्त-रचना और अच्छे सिद्धान्त का सृजन एक मुश्किल कार्य है। निष्कर्ष रूप में उनकी मान्यता है कि समाजविज्ञान में सिद्धान्त-रचना सरल नहीं है। सृजनशील सिद्धान्त-रचना के लिए हमें अपने संशोधन में खुलापन लाना चाहिए।

सिद्धान्त-रचना को प्रि-स्टडी और मुख्य स्टडी में विभाजित करना चाहिए। हमारे विचार या संकल्पना में नवसर्जन होना चाहिए।

प्रथम अकादमिक सत्र के अध्यक्ष प्रो. आर.एस. भटनागर ने **‘कर्म और सिद्धान्त’** पर अपने विचार रखे। उनके अनुसार कर्म के औचित्य की माँग किसी सिद्धान्त की अपेक्षा रखती है। ये सिद्धान्त व्यक्तिनिष्ठ हो सकते हैं अथवा वस्तुनिष्ठ; सापेक्ष अथवा निरपेक्ष; आधारभूत अथवा तात्कालिक। कर्म अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं और तदनुकूल सिद्धान्त भी क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं। प्राणा रक्षा हेतु भोजन तथा वस्त्र जुटाना; इसके निमित्त ज्ञान, कौशल तथा कल्पना का विकास; रोज़गार की आवश्यकताएँ, परस्पर सम्बन्धों को लेकर, अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें कर्म का रूप और हेतु अथवा आधार के रूप में सिद्धान्त अलग-अलग होते हैं। इन क्षेत्रों से सम्बन्धित आवश्यकताओं के अनुरूप स्थितियों की पहले से कुछ जानकारी रहती है, और कुछ प्रत्याशित भी सम्भव है। कई बार क्या करना है, यह लगभग निश्चित-सा होता है, और कई बार कर्म के पहले काफी ऊहापोह की स्थिति बनी रहती है। कभी कर्ता को सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होते और कभी उनके विषय में सोचने की आवश्यकता भी नहीं लगती। इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया।

द्वितीय अकादमिक सत्र (दिनांक 30/01/2016, समय : 12:15 से 2:00) प्रो. दिलीप चारण की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ, जिसमें दो शोध-पत्र पढ़े गए। पहला शोध-पत्र डॉ. पंकज बासोतिया ने पढ़ा, जिसका विषय था, **“विचार, सिद्धान्त और व्यवहार : एक दार्शनिक विश्लेषण”**। डॉ. पंकज बासोतिया के अनुसार, विचार या चिन्तन ही मनुष्य को सिद्धान्त, नियम एवं मानकों की ओर लेकर जाता है और फिर ये नियम, सिद्धान्त या मानक ही मानवीय व्यवहार के प्रेरक, संचालक एवं नियामक की भूमिका निभाते हैं। किन्तु बाद में जाकर जब ये विचार और सिद्धान्त रूढ़, जड़ एवं कठोर नियमों में बदल जाते हैं तो इन्हीं की भूमिका सकारात्मक न रहकर नकारात्मक हो जाती है। दूसरा शोध-पत्र डॉ. राजकुमार ने **“विचार, सिद्धान्त और कर्म : एक दार्शनिक अनुशीलन”** विषय पर पढ़ा। डॉ. राजकुमार ने अपनी बात जीवन की वास्तविकताओं से आरम्भ की। उनके अनुसार हमारे जीवन की कुछ वास्तविकताएँ हैं और उन्हीं वास्तविकताओं के प्रति हमारा व्यवहार होता है। विचार की निर्मिति के रूप में यदि ये सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक वास्तविकताएँ सत्य होती हैं तो ये व्यक्ति को उसके व्यवहार के लिए पर्याप्त स्पेस देती हैं और इन वास्तविकताओं में व्यक्ति का व्यवहार पूर्ण संगत और व्यवस्थित होता है। किन्तु यदि ये वास्तविकताएँ असत्य होती हैं तो ये व्यक्ति को उसके व्यवहार के लिए पर्याप्त स्पेस नहीं देती हैं और इस प्रकार व्यक्ति का व्यवहार इन वास्तविकताओं के प्रति असंगत और अव्यवस्थित होता है।

तृतीय अकादमिक सत्र (दिनांक 30/01/2016, समय : 3:00 से 5:00) प्रो. एन.पी. तिवारी की अध्यक्षता में हुआ, जिसमें तीन वक्ताओं - डॉ. दीपक श्रीवास्तव, डॉ. आर.एस. शेखावत और डॉ. चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह - ने शोध-पत्र पढ़े। डॉ. दीपक श्रीवास्तव ने अपना शोध-पत्र **“Thinking, Principle and Practice”** विषय पर पढ़ा। डॉ. श्रीवास्तव के अनुसार, विचार, सिद्धान्त और व्यवहार के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करना, इनमें से

प्रत्येक की प्रकृति को स्वयं की पूर्वापेक्षा रखता है। मनुष्य के विचार का विषय क्या है? इस प्रश्न के तीन प्रमुख उत्तर हो सकते हैं। प्रथम, मनुष्य अपने ऐच्छिक कर्मों पर, कर्मों के चयन पर, विचार करता है, द्वितीय, मनुष्य अपने भौतिक पर्यावरण, भौतिक सत्ताओं एवं भौतिक घटनाओं पर विचार करता है, तथा तृतीय, मनुष्य स्वयं विचार पर विचार करता है। विचार पर विचार करना मनुष्य का विशिष्ट गुण है।

विचार पर विचार की प्रक्रिया का आदर्श पूर्ण तार्किकता तथा विरोधाभास रहित वैचारिक सुसंगतता होता है। तर्कशास्त्र का उद्गम भी यही है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि तार्किकता विचारणा का धर्म है। जब यही विचार भौतिक जगत् की वस्तुओं और घटनाओं पर किया जाता है तो विचार अपनी प्रकृति के अनुरूप जगत् में व्यवस्था और नियम की खोज करता है। इसे हम वैज्ञानिक सिद्धान्तों के निर्माण का प्रस्थान बिन्दु कह सकते हैं। जहाँ तार्किकता सुलभ नहीं होती, विज्ञान प्रगति नहीं करता और विचार भी संतुष्ट नहीं होता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक ज्ञान का नियामक एवं आदर्श भी तार्किकता ही है। प्रकृति अचेतन एवं प्रायः अनुशासित एवं नियमित होने के कारण अप्रत्याशित व्यवहार नहीं करती। भौतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों का निर्माण इस कारण अपेक्षाकृत सरल होता है। विचार प्रकृति में स्वयं की तार्किकता एवं तारतम्यता की माँग की पूर्ति से प्रेरित होकर मनुष्य के व्यवहार में भी इसी आदर्श के फलीभूत होने की अपेक्षा करता है। और इसी क्रम में समाजविज्ञानों के सिद्धान्तों का निर्माण होता है। किन्तु समाजविज्ञान के सिद्धान्त भौतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों के समान पुष्ट नहीं होते तथा विवाद का विषय बने रहते हैं। इस विवाद का कारण यही है कि विचार अन्तर्विरोधों के साथ संतुष्ट नहीं होता तथा दूसरी ओर मनुष्य के समाज निश्चित, नियमित व्यवहार नहीं करते हैं। समस्या और अधिक गूढ़ तब बन जाती है जब विचार व्यक्ति के व्यवहार में भी ऐसी ही तार्किकता एवं सुसंगतता की अपेक्षा के चलते कर्मों में, कर्मों के चयन के सिद्धान्त बनाने का प्रयास करता है। समस्त नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त ऐसी ही अपेक्षा का परिणाम है।

मनुष्य का व्यवहार कर्म के नियम का, कर्म के सिद्धान्त का अथवा व्यवहार के नियम का, अनेक अवसरों पर परित्याग कर देता है। ऐसा इसलिए होता है कि मनुष्य प्रकृति के विषयों के विपरीत चेतन है और उसकी चेतना हर नई परिस्थिति में अलग प्रतिक्रिया करती है। चेतन मनुष्य जड़ प्रकृति की अपेक्षा बहुत अधिक जटिल है तथा इन जटिलताओं, व्यवहार के प्रेरकों, अपेक्षाओं और अभीप्साओं को सामान्य सिद्धान्त में समेकित कर पाना सम्भव नहीं है, यही कारण है कि सद्मति मनुष्य भी प्रायः नीतिशास्त्र हेतु एक गम्भीर चुनौती है। विचार निश्चित एवं अपरिवर्तनशीलता की अपेक्षा करता है जबकि मनुष्य का परिस्थितिजन्य चयन परिवर्तनशीलता को।

ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना ही उचित होगा कि मनुष्य को चेतन तथा असीम सम्भावनाओं से युक्त होने के कारण प्रत्येक परिस्थिति में स्वतंत्र चयन के अधिकार से वंचित न किया जाए तथा मनुष्य का चयन भी तार्किकता एवं सुसंगतता की वैचारिक माँग का पोषण करने वाला हो। ऐसा हो पाना कर्ता के चरित्र की सुसंगतता द्वारा ही सम्भव है। न्यायपूर्ण उत्कृष्ट चरित्र ही नैतिकता की इस दोहरी माँग को पूर्ण करने में सक्षम है।

डॉ. आर.एस. शेखावत ने 'कथनी और करनी में विसंगति की समस्या' पर शोध-पत्र पढ़ा। डॉ. शेखावत के अनुसार, सिद्धान्त तथा कर्म का एक बड़ा क्षेत्र कथनी और करनी का है। सिद्धान्त के अनुसार कथनी और करनी में संगति होनी चाहिए, और कथनी में सिद्धान्ततः यह अपेक्षा होती है कि वह 'सत्य' हो, अर्थात् वचन सत्य हो और आचरण वचन के अनुरूप। इस प्रकार कथनी और करनी में दो समस्याएँ हैं। पहली असत्य वचन की और दूसरी कथनी और करनी में विसंगति की। कथनी और करनी के विभिन्न उदाहरणों से मुख्य छः स्थितियाँ बनती हैं। पहले, कथनी और करनी में विसंगति है और अनुचित है। दूसरे, कथनी और करनी में विसंगति है किन्तु अनुचित नहीं है। तीसरे, कथनी और करनी में संगति है किन्तु अनुचित है। चौथे, कथनी और करनी में संगति है और उचित है। पाँचवे, कथनी और करनी दोनों ही नहीं, इसलिए अनुचित है। छठवें, कथनी और करनी में विसंगति है किन्तु निर्दोष। इन स्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि कथनी और करनी की विसंगति के बारे में कोई निरपेक्ष मत स्थापित नहीं किया जा सकता। इसकी चर्चा सन्दर्भ-विशेष, परिस्थिति-विशेष, व्यक्ति या संस्था-विशेष, काल-विशेष तथा घटना-विशेष के सन्दर्भ में सोपक्ष रूप से ही की जा सकती है और की जानी चाहिए। डॉ. चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह ने अपना शोध-पत्र "उत्तरदायित्व : जीवन समस्या या जीवनयापन कला" विषय पर पढ़ा। डॉ. चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह के अनुसार, मानवीय-जीवन में अनेक उत्तरदायित्व हैं और ये उत्तरदायित्व आयु के साथ बढ़ते चले जाते हैं। हम इन उत्तरदायित्वों से बच नहीं सकते हैं। अतः हमें कर्म का मार्ग अपना कर इन दायित्वों को पूरा करना चाहिए। अतः उत्तरदायित्व जीवनयापन की कला है।

चतुर्थ अकादमिक सत्र (दिनांक 31/01/2016, समय : 10:00 से 11:45) प्रो. के.एल. शर्मा की अध्यक्षता में हुआ। इस सत्र में दो शोध-पत्र, एक डॉ. सुरेन्द्र गायधने का "दार्शनिक दृष्टिकोण में 'सहिष्णुता' का प्रत्यय" विषय पर पढ़ा गया। डॉ. सुरेन्द्र गायधने ने अपने शोध-पत्र में बताया कि दार्शनिक समस्याओं के उद्भव का मुख्य स्रोत भाषाई अस्पष्टता रही है। भाषाई अस्पष्टता के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। विभिन्न व्यक्तियों, समाजों, राष्ट्रों में अनेक मतभेद या असहमती का कारण भी यही है। अतः यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि समस्या को प्रस्तुत करते समय उसका वास्तविक स्वरूप ज्ञात कर लें, संप्रत्यय के सही अर्थ एवं व्यवहार को समझ लें। इसी सन्दर्भ में डॉ. गायधने ने 'सहिष्णुता' की चर्चा की है जिसमें उन्होंने बताया कि, सहिष्णुता, सहनशीलता एवं अनदेखी ये तीनों अलग-अलग हैं। दूसरा शोध-पत्र "नैतिक सिद्धान्त एवं पर्यावरण" विषय पर प्रो. एन.पी. तिवारी का था। प्रो. तिवारी के अनुसार, आज का मनुष्य प्रदूषण से घिरकर अपना अस्तित्व बचा पाएगा या नहीं, यह एक गम्भीर समस्या है। इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने के पूर्व उसके कारणों की खोज करना आवश्यक है। उस खोज का उत्तर ही नैतिक-सिद्धान्त है। प्रो. तिवारी ने अपने शोध-पत्र में आगे इन नैतिक-सिद्धान्तों, प्रयोजनवाद, निष्प्रयोजनवाद, मानवकेन्द्रित-सिद्धान्त, पशु-अधिकार, पारिस्थितिकीय-सिद्धान्त तथा समानता के सिद्धान्त की विस्तार से मीमांसा की है। प्रो. तिवारी का मानना है कि वस्तुतः समानता का सिद्धान्त अध्यात्मवाद या सर्वोदयवाद का ही पर्याय है। सभी

नैतिक सिद्धान्तों में कोई-न-कोई कमी रह गयी है, जिसकी भरपाई समानता का सिद्धान्त ही करता है। जब तक हम सभी मनुष्य एवं मानवोत्तर प्राणियों को समान रूप से नहीं देखेंगे, वैदिक ऋषियों की दिव्यदृष्टि को नहीं अपनाएंगे, तब तक पर्यावरण-संरक्षण के लिए हम अक्षम होंगे, और कई असाध्य बीमारियों से जूझते रहेंगे।

पंचम सत्र (दिनांक 31/01/2016, समय : 12:00 से 1:30) की अध्यक्षता प्रो. सुरेन्द्र गायधने ने की। इस सत्र में दो शोध-पत्र, एक डॉ. ब्रजेश कुमार का शोध-पत्र **“Feminist Thought and Social Action”** तथा दूसरा डॉ. सुनील सालुंके का शोध-पत्र **“नारीवादी विचारों के प्रति समाज का दृष्टिकोण”** पढ़े गए। डॉ. ब्रजेश कुमार के अनुसार, नारीवादी अथवा नारी केन्द्रित विमर्श इसलिए प्रासंगिक है, क्योंकि न केवल भारत में अपितु सम्पूर्ण विश्व में नारी का शोषण एवं उत्पीड़न एक कटु ऐतिहासिक वास्तविकता है। लगभग बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक अधिकांश देशों एवं समाजों में सामन्ती एवं पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्थाओं के चलते, नारी को मात्र उपभोग की वस्तु के समतुल्य माना गया। जिसके फलस्वरूप उसके पल्लवन एवं सर्वांगीण विकास में उसके मानवीय अधिकारों, संवेदनाओं एवं अपेक्षाओं की प्राप्ति अथवा पूर्ति में विकट बाधाएँ निर्मित हुई हैं।

मुख्यतः अमरीका एवं यूरोप में प्रस्फुटित नारीवादी आन्दोलन में विगत लगभग 150 वर्षों में नारी के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों और उसकी समतामूलक स्वतंत्रता की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। 1792 में मेरी वोल्स्टन क्राफ्ट (A Vindication of the Rights of Women) से सिमोन द वुअ (1949, The Second Sex) बैटी फ्राइडमेन, ग्लोरिआस्टिनेम और जरमेन ग्रियर इत्यादि तक इस आन्दोलन ने अनेक पड़ाव तय किए हैं।

मैगीहम (Maggie Humm) और रबैका बॉकर (Rebecca Balkar) के अनुसार नारीवाद के इतिहास को तीन लहरों (Waves) में विभाजित किया गया है। प्रथम लहर मध्य उन्नीसवीं सदी और प्रारम्भिक बीसवीं सदी तक प्रभावी रही, जबकि द्वितीय लहर (Second wave) ने 1960 और 1970 के दशकों तक और तृतीय लहर (Third wave) ने 1990 से वर्तमान तक इस आन्दोलन को अवलम्बन एवं दिशा प्रदान करने का कार्य किया है।

भारत में नारीवादी विचार अथवा विमर्श पश्चिम की भाँति न तो एक सतत् एवं मुखर आन्दोलन का रूप ले सका और न ही यूरोप एवं अमरीका जैसी बेबाक् और बेलोस आन्दोलनकारी लेखक या विचारक उत्पन्न कर सका। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हमारे देश में नारी मुक्ति की दिशा में, नितान्त शून्यता का वातावरण रहा। नारी की अस्मिता एवं सम्मान के ध्वजवाहकों के रूप में हम राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सरोजिनी नायडू जैसी विभूतियों के योगदान को अनदेखा नहीं कर सकते हैं। विगत 50-60 वर्षों में अनेक भारतीय महिला लेखकों जैसे नयनतारा सहगल, इस्मत चुगताई, शशि देशपाण्डे, महाश्वेता देवी, शोभा डे, मंजू कपूर आदि ने नारीवादी सरोकारों को मुखर अभिव्यक्ति दी है। भारतीय राष्ट्रीय विमर्श में नारी हितों के संरक्षण हेतु पिछले दशकों में अनेक जुझारू नारीवादी महिलाओं ने प्रभावी भूमिका का निर्वहन किया है। इनमें इन्दिरा, जयसिंह, मीनाक्षी अरोरा, लीलासेठ, प्लेविया

एम्बिस, कविता कृष्णन, सम्पतपाल देवी, वृन्दा ग्रोवर, निवेदिता मैनन का योगदान उल्लेखनीय है। प्रस्तुत आलेख में उपरोक्त बिन्दुओं एवं नारी-मुक्ति के विचार से सम्बन्धित सरोकारों का वर्णन करने का प्रयास किया गया है।

डॉ. सुनील सालुंके ने अपने शोध-पत्र में स्त्रीवाद को परिभाषित करते हुए विभिन्न देशों में स्त्रीवाद के उद्भव पर विस्तार से प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् स्त्रीवाद के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की है। अन्त में वे अपने विचारों को रखते हुए कहते हैं कि स्त्रीवाद के बारे में समाज में बहुत सारी गलत फहमियाँ दिखाई देती हैं। अतः हमें स्त्रीवाद को सही रूप में समझना चाहिए।

अन्तिम अकादमिक सत्र (दिनांक 31/01/2016, समय : 2:30 से 5:00) डॉ. सुनील सालुंके की अध्यक्षता में हुआ, जिसमें श्री सुशान्त कुमार, रिंकी जाडवानी तथा डॉ. सुजाता चौहान के शोध-पत्र पढ़े गए। श्री सुशान्त के अनुसार, विचार का स्वरूप दार्शनिकों के मध्य विमर्श का एक शास्त्रीय बिन्दु रहा है। प्राचीनकाल से ही पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों तरफ के दार्शनिक विचार के स्वरूप तथा अनुभविक स्तर पर इसकी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। जहाँ पश्चिम में तथ्यों की सिद्धार्थक वाक्यों में अभिव्यक्ति शिक्षा का मूल ध्येय रहा, वहीं भारतीय चिन्तन विधियों की साध्यार्थक वाक्यों में अभिव्यक्ति की ओर झुका रहा अर्थात् उन विचारों की अभिव्यक्ति के प्रति जिनका कार्यान्वयन व्यवहार में किया जा सके। शिक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण अधिकांशतः व्यवहारनिष्ठ रहा। इस सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन के प्रभाकर तथा भाट्ट सम्प्रदायों ने विशेष विचार किया है। प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार, सभी सार्थक वाक्य चाहे वैदिक हों या लौकिक, विधिवाक्य होते हैं। अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य भी मूलतः उन विचारों को आत्मसात करना है जिन्हें व्यवहार में क्रियान्वित करना है न कि विश्व के तथ्यों की सिद्धार्थक वाक्यों द्वारा दी जाने वाली जानकारी। इस सम्बन्ध में श्री सुशान्त मीमांसा के अर्थ-मीमांसा शास्त्र तथा इनके दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के मध्य हुए विवाद का विश्लेषण करते हुए इनके विश्व-दृष्टिकोण को इनके सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद तथा अभीहितान्वयवाद से सम्बन्धित दिखाया है तथा इनके द्वारा प्रकाशित की गई मूल वैदिक विश्व-दृष्टिकोण तथा उसमें शब्द (भाषा) की स्थिति पर प्रकाश डाला है। यह भी दिखाया गया है कि यहाँ पुराने मत में विधि को अभिव्यक्त करना ही इनका साध्य था न कि उसके परिणामों की जानकारी देना। अर्थात् कर्तव्य का ज्ञान करा कर ही शास्त्र का कार्य समाप्त हो जाता है। प्रभाकर सम्प्रदाय में परिणाम को न स्वीकार कर इन्हें नियोज्य विशेषण की संज्ञा दी गई है। ब्रह्माण्ड के समस्त कार्य इन्हीं अमूर्त विधियों के क्रियान्वयन के परिणाम हैं जिनकी भाषा में अभिव्यक्ति वैदिक मंत्रों में की गई है। दूसरा शोध-पत्र रिंकी जाडवानी ने **“Speech Acts and Social Media”** पर तथा तीसरा शोध-पत्र डॉ. सुजाता चौहान ने **“मानकों का ज्ञान, अभिप्रेरक और कर्म का वरण”** विषय पर पढ़ा। डॉ. सुजाता चौहान ने अपने शोध-पत्र में यह बतलाने का प्रयास किया है कि अभिप्रेरक **‘मानकों के ज्ञान’** तथा **‘कर्म के वरण’** को कैसे प्रभावित करते हैं। डॉ. चौहान के अनुसार, जब और जहाँ कर्म के वरण की परिस्थितियाँ आती हैं वहाँ हमारे सामने कर्म के वरण के निर्धारक दो होते हैं - एक कर्म के मानक या नियम का ज्ञान स्तर और दूसरा अभिप्रेरण स्तर। जहाँ अभिप्रेरण स्तर न्यून होता है और मानक का ज्ञान स्तर उच्च, वहाँ व्यक्ति कर्म का वरण मानक के अनुसार कर लेता है और जहाँ अभिप्रेरण स्तर उच्च तथा मानक का

ज्ञान स्तर न्यून होता है वहाँ व्यक्ति अभिप्रेरक के अनुसार कर्म का वरण कर लेता है। किन्तु जहाँ मानक का ज्ञान स्तर और अभिप्रेरण स्तर समान हों वहाँ मानक के ज्ञान और अभिप्रेरक में संघर्ष होता है और व्यक्ति अन्तर्द्वन्द्व में पड़ जाता है। मानकों के ज्ञान और अभिप्रेरक के इस संघर्ष में अन्ततोगत्वा, अधिकांश स्थितियों में, मानकों का ज्ञान हार जाता है और अभिप्रेरक जीत जाते हैं तथा व्यक्ति कर्म के अनौचित्य को जानते हुए भी उसी अनुचित कर्म का वरण कर लेता है।

उपर्युक्त सभी शोध-पत्रों पर सार्थक एवं विभिन्न दृष्टिकोणों से गम्भीर विचार-विमर्श हुआ।

अन्त में, संगोष्ठी के समापन पर डॉ. आर.एस. शेखावत ने संगोष्ठी का प्रतिवेदन पढ़ा तथा प्रो. दिलीप चारण एवं डॉ. सुनील सालुंके ने संगोष्ठी के सन्दर्भ में अपने समीक्षात्मक विचार व्यक्त किए और डॉ. दीपक श्रीवास्तव ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

